उपसंहार

भारतीय आदिवासी समाज की अवस्था वैश्विक सर्वहारा की तुलना में पेचीदी है। वैश्विक सर्वहारा के शोषण का मूल रंग एवं अर्थ है तो भारतीय आदिवासी समाज के शोषण का मुख्य कारण जाति व्यवस्था की जनता भी है और लैंगिक शोषण भी। वर्ण व्यवस्था की अगली कड़ी के तौर पर जाति व्यवस्था का आविर्भाव होता है। वैश्विक सर्वहारा वर्ग आर्थिक दशा गुजरते ही उसका वर्ग परिवर्तन हो जाता है। पर भारत में आदिवासी वर्ग, आर्थिकता की दृष्टि से सुदृढ़ बनने के बाद भी, उसकी जाति परिवर्तित नहीं होती। विशेषतः भारत में जातीय शोषण का आधार धर्म एवं धार्मिक पाखंड है, जिसकी आड़ में आदिवासी समाज का खुला शोषण किया जाता है। जमींदार, महाजन, पटवारी, पंडित और मुखिया आदि के शोषण के कारण भारतीय ग्राम शोषण का अड्डा बना हुआ है। वैश्विक सर्वहारा के दृष्टि से मार्क्स-एगेल्स आदि तो भारतीय सर्वहारा की दृष्टि से महात्मा फूले और बाबा साहब अंबेडकर आज विशेष महत्व रखते हैं।

आदिवासी वर्ग के भीतर वे सारे लोग आते हैं जिनके पास रोजी-रोटी का साधन केवल श्रम है। इस श्रम को भी गाँव में शोषक, बेगार, कुर्की और मालगुजारी में लुटते हैं, तो शहर में पूँजीपति, बिचौलिए आदि। शिक्षा, अर्थ एवं सलाह के अभाव में आदिवासी समाज चाहे ग्राम

का हो या शहर का वह व्यवस्थागत शोषण का शिकार ही है। सामंतवादी एवं जमीदारी व्यवस्था पूँजीवादी व्यवस्था के अधीन हो गई है। सामंतवादी एवं जमीदारी व्यवस्था में थोड़ी बहुत इंसानियत के दर्शन हो सकते थे पर पूँजीवादी व्यवस्था तो पूरी तरह सर्वहारा वर्ग को समाप्त करने पर तुली है। महानगर में जिसके पास धन है वह मालिक बना और बाकी मजदूर बनकर उसकी संपत्ति बढ़ाने के माध्यम बन गए हैं। पूँजीवादी व्यवस्था की बर्बरता को गांधी जी ने भी महसूस किया था। आजादी के बाद नेहरू की नीति मिश्रित अर्थव्यवस्था की रही। जिस पर पूँजीवादी का ही प्रभाव था। इसकी शुरुआत वर्ष १९३० में हो गई थी। पूँजीवादी ने पूँजी के बल पर आदिवासी समाज का शोषण किया, नारी को भोग व्यवस्था और किसानों को बेकार बनाया।

आजादी की लड़ाई केवल भौगोलिक आजादी की लड़ाई नहीं थी बल्कि साम्राज्यवाद सामंतवाद और पूँजीवाद से मुक्ति की लड़ाई थी। पर साम्राज्यवाद को केवल सत्ता की दृष्टि से हमने समाप्त किया है जो मुक्त अर्थ नीति के द्वारा बाजार पर कब्जा बनाए हुए हैं। भारतीय समाजवाद पूँजीवाद का शिकार है। उदारीकरण निजीकरण एवं भूमंडलीकरण ने सर्वहारा समाज को बेकारी बसी है। मजदूरों की जगह मशीनों को स्थापित करके पूँजीपति अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाना चाहता है। साम्राज्यवादी राष्ट्र यह जानते हैं कि सैनिक शक्ति के द्वारा

दुनिया पर अब हुकूमत नहीं कर सकते क्योंकि अधिकतर राष्ट्र परमाणु ऊर्जा संपन्न बन गए हैं। दुनिया को कई बार समाप्त करने के लिए शस्त्र-सामग्री का अन्वेषण हो चुका है। इसलिए बाजार के द्वारा नव साम्राज्यवाद का आविर्भाव हुआ, जो समता एवं जनतंत्र का विरोधी है। आज दुनिया केवल मंडी बनी है, जहाँ व्यक्ति हित को महत्व दिया जाता है। एक ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत को डेढ़ सौ सालो तक गुलाम बनाए रखा था आज तो अनगिनत बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भारत में है। ग्राहकों को लुभाने के लिए इलेक्ट्रॉनिक एवं प्रिंट मीडिया को आधार बनाया गया है, जो चौबीसों घंटे हमारे दिलो-दिमाग को साधन सामग्री में उलझाए रखते हैं।

भारत ने समाजवाद का केवल नकाब पहना है। वास्तव में समाजवाद की आड़ में पूँजीवाद पल रहा है। पूँजीवादी नीतियों के तहत है निजीकरण को आदिवासी समाज पर थोपा जा रहा है। पूरे देश पर प्रछन्न सामंतवाद और ब्राह्मणवाद की छाया है। आरक्षण की सामाजिक न्याय वाली भूमिका को निजीकरण दफना रहा हैं। सरकार मुनाफे में चल रहे कल-कारखानों को बेचकर पूँजीपतियों को खुश कर रही है और आदिवासी समाज एवं देश को बर्बाद। राष्ट्रीय संपत्ति की निजीकरण के नाम पर नीलामी हो रही है। पूँजीपतियों की पैरवी करने वाली सरकारें तो अलग से मंत्रालय तक चलाती हैं। एक तरफ आदिवासी कुपोषण का

शिकार है तो दूसरी ओर 'स्पेशल इकोनॉमिक जोन' बनाए जा रहे हैं छठे और सातवें वेतन आयोग ने नौकरी पेशा लोगों की आमदनी बढ़ाई है पर जो वेतन आयोग के बाहर है उनकी कमर टूट रही है। वस्तुओं को खरीदने का हौवा खड़ा किया है। नव पूँजीवाद के पूर्व मजदूरों के काम के आठ घंटे हुआ करते थे, पर आज तो काम के घंटे पूरे चौबीस हो गए हैं। रात-दिन काम या ओवरटाइम करके आदिवासी वर्ग अपनी जिंदगी की गाड़ी खींचता है। पूँजीवादी व्यवस्था ने जाति धर्म और वर्ग भेद के आधार पर मजदूर आंदोलनों में फूट डाली है। परिणामयः मजदूर संगठन कमजोर बन गया है। मुंबई के गिरगी कामगारों की वर्तमान दशा इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। 'लाल बावटा' सर्वहारा मजदूर संगठन के आगे सारी पूँजीवादी व्यवस्था खौफ में थी। आज अधिकतर राजनीतिक पार्टियों ने मजदूरों के अलग-अलग गुट बनाकर इन्हें विभाजित किया है। संजीव का मानना है कि भारत की जाति व्यवस्था यूरोप और अमेरिका की दास प्रथा से भी बदतर है आज भी यहाँ मल मूत्र-सफाई और मरे मवेशियों की लाश उठाना दलितों के जिम्मे है। संजीव का रचना संसार आदिवासी मुक्ति की दस्तक जमीन पर रूपायित देखना चाहता है। पर वे यथार्थ से मुँह नहीं मोड़ना चाहते इनकी मान्यता है कि मैं कलम से एक क्या सौ-सौ क्रांतिया दिखा सकता हूँ पर वास्तव में क्या है मार्क्सवाद 'जाति तोड़ो' आंदोलन से कन्नी काटता है क्योंकि आज भी उनके अवचेतन में जातीय श्रेष्ठता के दंभ के दर्शन होते हैं इसलिए संजीव कुछ ढोंगी मार्क्सवादीयों

की खबर लेते हैं। सामंत, जमीदार, पंडित, सूदखोर, पूँजीवाद एवं नव-पूँजीवाद आदि को संजीव आदिवासी दुर्दशा के लिए जिम्मेदार बताते हैं। प्रेमचंद को भी एक बार छूना चाहते हैं इसी वक्तव्य में उनकी आदिवासी चिंता को देखा जा सकता है। प्रेमचंदोत्तर काल में उभरी सर्वहारा वाणी में संजीव अपना विशेष महत्व रखते हैं। विज्ञान के छात्र होने के नाते रूढ़ि परंपराओं के प्रति विद्रोह उनकी रचनाओं में देखा जाता है।

गरीबी ही आदिवासी समाज को चोरी, भीख, सिलतोड़ी, कबाड़ी और वेश्या बनने के लिए मजबूर करती है। रेल की खाली डब्बे तक में वह अक्सर अपना संसार चलाते हैं। वैसे तो आदिवासी की जगह अक्सर फुटपाथ, पुल आदि पर ही होती है। पेट की आग बुझाने के लिए शिकार का सहारा लेना पड़ता है गरीबी के कारण लकवा मारे-सी सर्वहारा समाज की स्थिति हो गई है।

गैर आदिवासी शोषण के कारण सर्वहारा आदिवासी, रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, चिकित्सा और रोजगार से दूर है। वे कपड़ों के नाम पर केवल चिथड़ो पर बसर करते हैं। गरीबी के कारण माँ अपने बच्चे तक को हाकिम को सौंपना चाहती है। प्राकृतिक प्रकोप और शोषण आदिवासी को गरीबी बख्शता है। घर का सारा कपड़ा बेतिया महाराज के पायखाने के पोछे गए कपड़ों से बना और कोई बच्चा अपनी उल्टी खाये महामारी इससे बड़ी और क्या गरीबी हो सकती है! काली का डाकू बनना

अर्थाभाव का ही परिणाम है। 'सूत्रधार' उपन्यास में संजीव गरीबी को दर्शाते हुए कहते हैं कि यहाँ तो फटी हुई लुगरी सिलाने के लिए घर में सुई और डोरा तक नहीं है। अर्थाभाव के कारण बेटी बेचने की प्रथा भी उपन्यास में आती है। अर्थाभाव के कारण सर्वहारा बच्चे मक्खी और मच्छरों की तरह मर जाते हैं। अर्थाभाव के कारण ही सुरजू फटी पुरानी चड्डी और बनियान पर बसर करता है। संजीव का संतप्त मन पूछता है जिन्हें नाज़ है हिंद पर वे कहाँ है?

कार्ल मार्क्स ने १९८३ में अपने एक मित्र आर्नोल्ड रूज को एक पत्र में लिखा था, "हमारा उद्देश्य भविष्य की रूपरेखा निर्मित करना नहीं है और हर सवाल का अंतिम उत्तर देना भी नहीं है। हमें जो पूरा करना है वह है, जो कुछ है उसकी निर्मम आलोचना करना। निर्मम दो अर्थों में। एक तो उस आलोचना के निष्कर्षों से भयभीत न होना और दूसरे सत्ता से टकराहट से भी न डरना।" संजीव ने अपने उपन्यास 'रह गई दिशाएँ इसी पार' में समकालीन पूँजीवाद की जीव-विज्ञान संबंधी अतिथियों और विकृतियों की जो निर्मम आलोचना की है उसमें वे भी न तो अपने निष्कर्षों के बारे में चिंतित है और न वर्तमान पूँजीवाद की सत्ता से संघर्ष के बारे में। संजीव ने एक वैज्ञानिक की तरह जीव-विज्ञान के नवीनतम अनुसंधानों, उपलब्धियों और प्रयोगों का व्योरेवार विश्लेषण करते हुए एक कथाकार की तरह प्रकृति, संस्कृति और मनुष्य के जीवन के

संदर्भों में उस सबके प्रभावों, परिणामों और परिणतियों को अपने उपन्यास में प्रस्तुत किया है।

पिछले कुछ दशकों में जीव-विज्ञान में अपूर्व अनुसंधान और प्रयोग हुए हैं और उनकी उपलब्धियाँ भी अपूर्व ही हैं। इस प्रक्रिया में लिंग परिवर्तन, उधार की कोख, हार्मोन थिरैपी, क्लेनिंग, टेस्ट ट्यूब बेबी, कृत्रिम गर्भाधान, टिश्यू फल्वर आदि का वर्तमान पूँजीवाद में व्यापार करने और लाभ कमाने के लिए कितना और कैसा विभत्स दुरुपयोग किया है, यह जानना हो तो 'रह गई दिशाएँ इसी पार' को पढ़ना आवश्यक है और उपयोगी भी। इस उपन्यास का एक पात्र विशाल यह जगह करता है, "ये पैसे वाले ज्ञान-विज्ञान की सारी बौद्धिक संपदा को हथिया लेना चाहते हैं अब तक सुनता ही आया था, आज प्रत्यक्ष हो गया।" इस उपन्यास में संजीव का जीव-विज्ञान का ज्ञान चकित करने वाला है। उसका एक उदाहरण देखिए "वैज्ञानिक कहते हैं कि करोड़ों करोड़ वर्ष पहले एक ही कोशिका में समाये थे डिंब और शुक्राणु। फिर भी अलग हुए बड़ा अंश डिंब बना छोटे-छोटे अंश शुक्राणु। पुरानी स्मृतियाँ उन्हें मिलन के लिए खींचती हैं प्रायः दो अरब वर्ष पहले कुछ विकसित जीवो में काम-क्रिया का विकास हुआ है। बड़े से डिंब के लाखों शुक्राणुओं को अभी सिंचित करने का संघर्ष। जैसे दो प्यासी आत्माएँ ------------ ये दोओ 'दो' नहीं 'एक' हैं। शोधित होती रही यह प्रक्रिया। हर संयोग के

साथ बदलते रहे जीन। जीन्स के आदान-प्रदान से धरती भर गयीं स्पीसिस से। वे ही बाधित रहे जो निषेधवादी। या कुंठित थे।"

पूँजीवाद व्यापार के लाभ के लिए क्या-क्या करता है और कर सकता है, यह इस उपन्यास में विष्णु बिजारिया के माध्यम से दिखाया गया है। विष्णु बिजारिया की माँ अपने बेटे के व्यापार के बारे में सोचती है जो खेत चूहे शुभ माने जाते हैं और जिनकी व पूजा करती रही हैं उन्हें ही तरह-तरह से तकलीफ है देकर मरवाता फिरता है उसका बड़ा बेटा। जिन गायों की रक्षा करने में उनके छोटे बेटे किस्नू ने जीवन लगा दिया, उन गायों को कटवाता है उनका बड़ा बेटा। भेड़, बकरी भी यहाँ तक कि सूअर भी। घर में माँस-मछली वर्जित है और मछलियों का धंधा करता है उनका विष्नू। आदमी तक के माँस का कारोबार करता है।"

पूँजी कैसे विज्ञान को अपने वश में करती और रखती है इस की ओर संकेत भी इस उपन्यास में हैं "वैज्ञानिक के पास प्रतिभा होती है लेकिन पैसा --------? पैसा तो पूँजीपति के पास होता है या फिर शोषक या सरकारों के पास। ये सेठ और सरकारें उन्हें खिलाती-पिलाती हैं, पैसे देती हैं, पालतू बनाती हैं। कभी कहती हैं ऐसा करो, कभी कहती है वैसा और कभी-कभी कुछ कहती भी नहीं, ये उसकी इच्छा को अच्छे स्वामिभक्त की तरह स्वयं ही समझ लेते हैं।" जे• डी• बर्नाल ने 'साईंस इन हिस्ट्री' नाम की पुस्तक में ठीक ही लिखा है कि जब व्यक्तिगत लाभ

और विनाश के साधन के रूप में विज्ञान का उपयोग होता है तब उससे समाज में जो हताशा और विकृत फैलती है, तब ही विज्ञान का सचमुच अनादर होता है पूँजीवाद ने विज्ञान का उपयोग व्यक्तिगत लाभ के लिए किया है और भीषण विनाश के लिए भी।

पूँजीवाद की संस्कृति की एक विशेषता यह है कि इसमें सब कुछ बिकता है। उपन्यास के लगभग अंत में मछुआरिनों के माछ बेचने के प्रसंग में उपन्यासकार ने लिखा है, "माछ ले लो माछ! टटका माछ! माँस लेना है माँस! किस जीव का माँस? आदमी तक का माँस हमारे पास है। बोलो, क्या चाहिए।

पूरा देश बैठा है बेचने। क्या बेच रहे हैं लोग?

मछली? माँस?

सिर्फ मछली नहीं, सेक्स, आँख, दिल, खून किडनी, स्टेम, सेल्स, कोख-------।

अलसाई-अलसाई धूप में टाँगे फैलाये डिंब आदमी के। उकड़ूँ बैठी------ टाँग फैलाये-----। स्पर्म ले लो स्पर्म, जैसा चाहे वैसा स्पर्म! यकीन नहीं आता?

लोग हथेलियों पर रखकर अपना माल दिखा रहे हैं- ये देखो, ये डिंब, ये वीर्य, ये कोख ये---------

सब बेच रहे हैं खुद को, झेपने की जरूरत नहीं। श्लील, अश्लील, मूल्य संस्कार की सारी रेखाएँ मिट गयी हैं।

क्या कहा? असलहे?असलहे भी। कितने चाहिए। हाँ, किसे मारना है और किसे जिलाये रखना है- यह हम तय करेंगे, आप नहीं।"

जहाँ यह सब बिकता है वहाँ कौमार्य भी बिकता है और खरीददार भी है बिष्णु बिजारिया जैसे पूँजीपति। इस उपन्यास की एक पात्र कौशल्या करती है, "दूर-दूर तक कोई चारा न था। सिर्फ देह थी और मैं थी। थैंक गॉड कि देह जवान थी और कौमार्य अक्षत। फिर तुम्हारे भेजे हुए स्पांसर्स। उन्होंने सबसे पहले मेरा नाम बदला। 'वो कौशल्या से थोड़ा पवित्र-पवित्र और थोड़ा गवारू-गवारू की बू आती है अब से तुम कौशल्या नहीं क्रिस्टीना हो' फिर चाल बदली, ढाल बदली, बोली बदली, अदा बदली और इंटरनेट और चैनलों के प्रचार के चंग पर चढ़ा दिया कोलकाता की गली की कौशल्या दुनिया-भर की क्रिस्टी हो गयी जिसकी वर्जिनिटी की बोली लगी। सवा करोड़ पर बोली टूटी।"

आज के समय में पूँजीवाद की सच्ची और खरी आलोचना तभी हो सकती है जब उसके साथ साम्राज्यवाद की भी आलोचना हो।

औद्योगिकरण आदिवासियों के लिए शाप साबित होता है। सरकार और औद्योगीकरण के नाम पर इनकी जमीन तो हथिया लेती है

पर उचित मुआवजा इन्हें नहीं देती। उद्योगों में न इनकी भागीदारी है, न ही इनकी नौकरी की व्यवस्था की जाती है। शिक्षा, चिकित्सा आदि बुनियादी सुख-सुविधाओं के अभाव में यह आदिवासी जीते हैं। उद्योगीकरण का लाभ गैर-आदिवासी उठा रहे हैं। और इनके नसीब में है औद्योगिक प्रदूषण। औद्योगिकरण आदिवासियों को विस्थापित कर रहा है। औद्योगीकरण के चलते सोने की धरती की संतान कंगाल बन गई है। संजीव झारखंड आदि क्षेत्रों के आदिवासियों की बदहाली के लिए औद्योगिकरण को जिम्मेदार बताते हैं क्योंकि एक समय था वे रोजी-रोटी की व्यवस्था अपनी नैसर्गिक साधन-सामग्री से करते थे। पर आज उनके सारे साधन विकास के नाम पर छीनकर उन्हें पूरी तरह से बेदखल किया गया है। जिसकी कसक उनके उपन्यासों में देखी जा सकती है।

'पॉव तले की दूब' उपन्यास औद्योगिकरण बनाम आदिवासी अस्मिता के द्वंद का निदर्शन है। एक समय आदिवासी जमीन के मालिक थे आज टोकरी में थर्मल पावर स्टेशन के लिए सरकार आदिवासियों की जमीन का अधिग्रहण कर रही है। आदिवासी जमीन के मुआवजों और नौकरी की माँग करते हैं पर कोई फायदा नहीं होता। झारखंड खनिज संपदा का भंडार है। यहाँ नए-नए उद्योगों को स्थापित किया जा रहा है। सरकार अगर इन्हें उचित मुआवजा दे तो इनकी जिंदगी से गरीबी हमेशा के लिए चली जा सकती है पर इन पर अन्याय

ही किया जा रहा है- "आदिवासियों को, इनकी जमीन पर ये कारखाने लग रहे हैं, उन्हें टोटली डिप्राइव किया जा रहा है- इस संपत्ति में उनकी भागीदारी तो खत्म की जा रही है, उन्हें जमीन से भी बेदखल किया जा रहा है, मुआवजा भी अफसरों के पेट में।" आदिवासियों की जमीन पर प्लांट बनाए गए उन्हीं के नसीब में बिजली नहीं। प्लांट की चिमनियों से निकलता जहरीला धुऑ और मनसा नाले में बहता कारखाने का उत्सर्जन आदिवासियों को रोगग्रस्त बना रहा है।

आदिवासियों का उनकी जमीन पर अब किसी भी तरह का अधिकार नहीं रहा है जो जंगल उनके पुरखों के थे आज जंगल का किसी भी तरह का वह उपयोग नहीं कर सकते। कालीचरण किस्सू अपनी सर्वहारा दशा का वर्णन करते हुए कहता है- "साहब सरकार तो मेहरबान है न हम पर?---------ये ई मेहरबानी है न कि जिस छोटा बुरू के जंगल शालवनी से हमारा बाप-दादा काट काट के लाता रहा अब हमरा लड़का-----जनाना दंतुअन भी नहीं तोड़ सकता? भूमि अधिग्रहण की समस्या ने आदिवासियों को दर-दर की ठोकरें खाने के लिए मजबूर किया है। अपने ही जंगल से वे दंतुअन तक तोड़ नहीं सकते उन्हें जंगलों को ठेकेदार काटकर ट्रकों पर लादे शहर में बेच रहे हैं।

यहाँ औद्योगीकरण के नाम पर शोषण चल रहा है। सरकार जमीन और जंगल अधिग्रहण कर रही है अब जिस जमीन पर

कारखाना बना है उस कारखाने का किसी भी तरह का फायदा आदिवासियों को नहीं मिलता उन्हें औद्योगीकरण के चलते हवा और पानी प्रदूषित हो गया है। परिणामतः जमीन और जंगल के बदले उन्हें और रोग बख्शे जा रहे हैं इस प्रदूषण के कारण यहाँ का सर्वहारा समाज लकवा मारे जैसा अर्धमृत अवस्था का शिकार बन गया है। कथावाचक आदिवासियों के रोग का मूल कारण बताते है- "लेकिन चाचा, यह रोग तो मनसा नाले के चलते हैं। बिजली के कारखाने के सारा गंदा पानी बहता है इसमें। और उससे भी जहरीली है हवा की चिमनियों का सारा जहर फेकती रहती है इधर।" प्रदूषण के कारण माझी हणाम की एक लड़की को तो लकवा मार ही गया दूसरी को भी लकवे के लक्षण नजर आने लगे हैं।

योजनाओं के तहत प्लांटों का उद्देश्य आसपास के गाँवों में बिजली पहुँचाना था। यह बिजली रेल कंपनियाँ, कोलियरी, महानगर और सेठों के कारखानों को मिलती हैं गाँव अभी भी अंधेरे में कसमसाता है। प्लांट की चिमनी से उड़ने वाली राख और गैसों के चलते प्रदूषण बड़ा है और आदिवासियों की खेती नष्ट हो रही है। कथावाचक आदिवासियों की भूख का मूल कारण औद्योगिक प्रदूषण को मानते हैं। प्रदूषण के चलते जमीन बंजर होने के कारण अनाज कम होता है प्लांट

बनने पर उम्मीद जताई जा रही थी कि प्लांट प्रभावित सभी को नौकरी मिलेगी पर केवल दो प्रतिशत लोगों को ही

नौकरी मिल पाई। प्लांट के कारण कुओं का सारा पानी प्रदूषित हो गया। अब मनसा नाले का प्रदूषित पानी एकमात्र इन सर्वहारा आदिवासियों का सहारा है। इस नाले में प्लांट और कॉलोनी का प्रदूषित पानी बहाया जाता है। जिसके कारण बीस लोगों को अपनी जान गँवानी पड़ी। इन प्लांटों में पर्यावरण प्रदूषण रोकने और उत्सर्जित गैसों के फिल्टर संयंत्र की व्यवस्था नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि परिवेश प्रदूषण की चपेट में आ गया प्लांट मनसा नाले की सफाई का जिम्मा नहीं लेता और न ही प्लांट और कॉलोनी के पानी को नाले में छोड़ने के पूर्व वाटर ट्रीटमेंट की जाती है।

औद्योगीकरण के नाम पर इस सोने की धरती का दोहन करके आदिवासियों को कंगाल बनाया जा रहा है। दो तिहाई आय इस प्रदेशों से सरकार की है और यहाँ के आदिवासी सुख-सुविधाओं के अभाव में जिंदगी बसर कर रहे हैं। आदिवासी औद्योगिकरण के विरोध में संघर्ष करते हैं पर कोई हल नहीं निकलता। न तो इन्हें उनकी भूमि मिलती है और न ही रोजगार। औद्योगिकरण की नीति आदिवासियों के लिए घातक दे पंच पहाड़ अर्थात् बाघमुंडी, डोकरी, मेझिया आदि झारखंड के खनिज बहुत औद्योगिकरण की चपेट में आकर मरणासन्न अवस्था में

आ गए है। औद्योगिकरण का विपरीत परिणाम यहाँ के जन-जीवन पर हम देख सकते हैं। सुदीप्त उनकी यथार्थ दशा का बयान करता है- "लड़के-लड़कियाँ और बूढ़े लकवे की मारे-से दिख रहे थे और उस पर अनेक स्याह चेहरों की भयावनी उजली आँखें। भरी दोपहरी भूख पर प्रेतों और डायनों का साया मंडराने लगा।" क्षेत्र का आदिवासी औद्योगिक प्रदूषण और विस्थापन से त्रस्त है।